



श्री श्री परमहंस योगानन्द
(१८९३-१९५२)

चरित्र दोषों पर विजय कैसे पायें

(Overcoming Character Liabilities)



श्री श्री दया माता

“आदर्श जीवन” पुस्तकमाला



Yogoda Satsanga Society of India

FOUNDED 1917

Paramahansa Yogananda

मुद्रणाधिकार © 2004 सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप

सर्वाधिकार सुरक्षित। "चरित्र दोषों पर विजय कैसे पायें"
(*Overcoming Character Liabilities*) के किसी भी अंश की किसी
भी रूप में प्रतिकृति करना या किसी भी साधन—इलेक्ट्रॉनिक, मैकेनिकल
या अन्य प्रकार, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग या सूचना संचयन और पुनःप्राप्ति
पद्धति—द्वारा प्रसारित करना Self-Realization Fellowship, 3880
San Rafael Avenue, Los Angeles, California 90065-3298,
U.S.A. की लिखित अनुमति के बिना मना है।

First Hindi Edition, 2004

Second Impression, 2007



योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/

सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप का अधिकृत प्रकाशन

इस पुस्तक की ट्रेड ड्रेस (trade dress) सेल्फ-रियलाइजेशन
फेलोशिप का ट्रेड मार्क है।

YOGODA SATSANGA SOCIETY OF INDIA
Yogoda Satsanga Math, 21, U. N. Mukherjee Road,
Dakshineswar, Kolkata 700 076
द्वारा भारत में मुद्रित तथा प्रकाशित

वितरक:



Diamond Pocket Books

योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया के भारत में स्थित सभी
आश्रमों एवं ध्यान केन्द्रों में भी उपलब्ध।



एक शक्ति है जो आपको स्वास्थ्य, सुख,
शांति और सफलता की ओर ले जाने वाले
मार्ग को प्रकाशमान कर सकती है, यदि आप
उस प्रकाश की ओर उन्मुख हों।

— श्री श्री परमहंस योगानन्द



छात्र प्रमाण किपाह कि है कील लपु
लिह लिह लि गीह कि तालकल गीह हील
पाह गीह है तिकल उर तालकल कि गीह
। कि छल्लह गीह कि तालकल लह
प्रमाण प्रमाण कि कि —

7

आध्यात्मिक पथ तलवार की धार के समान होता है। इस पथ के सीधे और संकीर्ण सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे बिना ईश्वर को पाना अत्यंत कठिन है। उस सबसे अमूल्य निधि को हम सबसे बड़ा त्याग किये बिना नहीं पा सकते। वह त्याग है उन समस्त चरित्र दोषों को अपने स्वभाव से हटाना जो हमें इस जड़ शरीर से और उसके साथ जुड़े अहंकार से इतनी घनिष्ठता के साथ बाँधे रखते हैं और इस प्रकार ईश्वर और हमारे बीच दीवार बन कर खड़े होते हैं।

मन को तटस्थ रखना सीखें

आत्मकरुणा या अपने आप पर तरस खाना क्षुद्र अहंकार में डूबे होने की एक निशानी है। यदि हम आत्मकरुणा में लिप्त रहते हैं तो हमारा दृष्टिकोण सदैव आत्मनिष्ठ रहता है, हम सब कुछ व्यक्तिगत तौर पर लेते हैं। किसी बात के प्रति हम तटस्थ नहीं रह सकते। परिणामस्वरूप हमें अपने लिये सदैव दुःख होता है। तटस्थ भाव का अर्थ है अपने कार्य के प्रति, दूसरों के साथ अपने संबंधों के प्रति और सर्वोपरि, ईश्वर के साथ अपने संबंधों के प्रति हमारा सबसे अच्छा दृष्टिकोण क्या होना चाहिये इस स्तर पर सोचना।

जब हम अपनी आत्मनिष्ठ मानसिकता में ही लोटते रहते हैं तो हम अति संवेदनशील बन जाते हैं। कोई भी हमारे पास हमारे स्वभाव दोषों के बारे में कोई सुझाव देने के लिये भी आने की हिम्मत नहीं करता क्योंकि हम सदा अपनी ही बात का समर्थन करते हैं। अपनी ही बात को सही सिद्ध करने का प्रयास भी आत्मकरुणा का ही एक लक्षण है। अपने मन को अलग हो कर परिस्थिति का और आपकी प्रतिक्रिया का निष्पक्ष विश्लेषण करने की आदत डालना सिखाओ। जब कोई सच्चाई तुम्हारे सामने पेश की जाये तो उसे स्वीकार करो।

कोई आपकी आलोचना करता है इसलिये अगर आप दुःखी हो जाते हैं या चिड़चिड़ापन करने लगते हैं या उस आलोचना से “ढह जाते हैं” तो पक्का जान लें कि यह आपके चरित्र में एक दुर्बल कड़ी है। हमें अपने व्यक्तित्व के जिस-जिस पहलू को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है उस-उस क्षेत्र में भगवान प्रत्येक मनुष्य की परीक्षा लेते ही हैं। किसी के सामने भगवान आकाश में प्रकट हो कर यह नहीं कहते : “देखो मेरे बच्चे! तुम में ये कमजोरियाँ हैं।” बल्कि वे हमारे जीवन में उन परिस्थितियों को लाते हैं जो

हमें अपनी चेतना में बैठी मनोवैज्ञानिक कमजोरियों को पहचानने का तथा उन्हें दूर करने का अवसर प्रदान करती हैं। जहाँ आत्मकरुणा होती है, वहाँ अपने प्रत्येक व्यवहार का औचित्य-समर्थन करने की प्रवृत्ति होती है। जब आपकी गलतियों एवं आपके दोषों को किसी के द्वारा आपके सामने उजागर किया जाता है तो हर बार अपना स्पष्टीकरण देने की मानसिकता पर नियंत्रण करो। उदाहरण के लिये, आपसे कोई कहता है कि आप दूसरों की निंदा बहुत करते हैं या हमेशा बुराईयाँ ही देखते हैं, तो उलटा जबाब देने के बजाय अपना अंतर्परीक्षण करो। हो सकता है कि वह व्यक्ति जो कह रहा है वह सही हो और आपके सच्चे मित्र की भूमिका निभा रहा हो।

आत्म सम्मान भीतर से आता है

अहंकार का अन्य एक दोष है आत्मगौरव — “मैंने यह किया, मैंने वह किया; वह विचार सबसे पहले मेरे ही दिमाग में आया था।” ईश्वर ही कर्त्ता है और हमारी सफलताओं का श्रेय सही मायने में केवल उसी को जाता है यह भूलकर जब अपनी योग्यता को या अपने द्वारा किये गये

कार्यों को अति महत्त्व दिया जाता है तो झूठा अभिमान उत्पन्न होता है। “घमण्ड का सिर नीचा” वाली कहावत बिलकुल सत्य है। जैसे ही आपको घमण्ड हो जाता है, आप पतन की ओर अग्रसर होते हैं।

गुरुजी प्रायः एक कविता की पंक्तियों को उद्धृत करते थे : “Full many a flower is born to blush unseen/And waste its sweetness on the desert air.”* सचमुच इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हमें अपने कार्यों के लिये श्रेय मिलता है या नहीं। लोगों की मान्यता मिलने की चाहत आध्यात्मिक पथ पर एक गर्त के समान है। वह हमें झूठी प्रशंसा के पंखों पर बिठा कर उड़ा ले जा सकती है क्योंकि वह केवल अहंकार की तुष्टि करती है।

जो सही है उसे करने से ही आध्यात्मिक विकास होता है, उसके लिये श्रेय मिलने से नहीं। आप कह सकते हैं : “ऐसा करने से तो कार्य करने के लिये कोई प्रेरणा ही नहीं रहेगी। मैं तो चाहता ही हूँ कि लोग मेरी प्रशंसा करें!” लेकिन ऐसी प्रशंसा जिसके वास्तव में कोई मायने हैं, अंतर से आती है जब हम अनुभव करते हैं कि हमें ईश्वर का समर्थन है।

* थॉमस ग्रे की *Elegy in a Country Churchyard*.

अनेक लोग ऐसे हुए हैं जिन्हें विश्वख्याति प्राप्त हुई, पर फिर भी जिनका जीवन आत्महत्या से समाप्त हुआ। उन्हें जो प्रशंसा प्राप्त हुई वह उनके लिये खोखली सिद्ध हुई क्योंकि उससे अंतर में उन्हें तृप्ति नहीं मिली। परन्तु यदि अपने अन्तर में आपको यह एहसास हो कि आपने ईश्वर की कृपा प्राप्त कर ली है और ईश्वर की दृष्टि में आप प्रशंसनीय हैं तो आपका मन कभी विचलित नहीं होगा चाहे कितनी ही प्रशंसा या कितनी ही आलोचना की बौछार आप पर कर दी जाये।

जब भी कोई गुरुदेव की प्रशंसा करता तो उनके चेहरे पर एक प्यारी-सी, मधुर, विनम्र मुस्कान छा जाती थी। वे कुछ सीधे सरल शब्दों के साथ उस प्रशंसा को प्रभु के चरणों में समर्पित कर देते थे : “मैं किसी से कोई अपेक्षा नहीं करता; परन्तु यदि किसी तरीके से मैं अपने भगवान को प्रसन्न कर सकता हूँ तो मुझे अत्यंत खुशी होती है।” वे सच्चे अर्थ में विनम्र व्यक्ति थे, सदा एक समान, हर परिस्थिति में समभाव में स्थित।

अपनी गलतियों के प्रति संतुलित दृष्टिकोण

आत्मगौरव के विपरीत सिरे की प्रवृत्ति है आत्मधिकार

की, जो उतनी ही विनाशकारी है। कई वर्ष पहले यहाँ एक व्यक्ति रहते थे जिन की नस-नस में आत्मधिकार भरा हुआ था। वे सदा यही सोचते और बोलते रहते थे कि वे कितने तुच्छ थे, उनमें कितने अधिक दोष थे — मैं तुच्छ से भी तुच्छ हूँ, मैं किसी योग्य नहीं हूँ, मुझमें इतने दोष हैं, मैं, मैं, मैं — उनकी यह मैं, मैं इस हद तक पहुँच जाती थी कि सुनने वालों के मुँह तक बात आ जाती : “थोड़ी देर के लिये तुम अपनी यह मैं, मैं को दूर करोगे? चाहो तो अपने आप को धूल के कण भी मान लो लेकिन उसके बारे में इतनी बक-बक तो मत करो!” आत्मधिकार और विनम्रता एक ही नहीं है। आत्मधिकार में अहंकार प्रबल होता है, विनम्रता में वह पराभूत रहता है।

अपना धिक्कार करने में तत्पर मत रहो। हर कोई गलती करता है और मैं नहीं समझती कि भगवान उसकी कोई पवा भी करते हैं। वे तो केवल यही चाहते हैं कि हममें बेहतर बनने की चाह हो और हम बेहतर बनने के लिये प्रयास करें। वे केवल हमसे यह संकल्प चाहते हैं : “प्रभु, हो सकता है मैं बार-बार गलतियों पर गलतियाँ करूँ, परन्तु अन्तिम साँस तक मैं बेहतर बनने का प्रयास करता ही जाऊँगा।”

अपने साथ और ईश्वर के साथ सत्यनिष्ठ रहें

झूठापन एक गंभीर दोष है। यह अंतःकरण में चल रहे आंतरिक द्वंद्व का बाहरी लक्षण है। यदि झूठापन आपमें है तो आपका मन ईश्वर पर नहीं रह सकता क्योंकि ईश्वर स्वयं सत्य है। एक सत्य की दिशा में और दूसरी असत्य की दिशा में — दो विरुद्ध दिशाओं में जा रही नावों में दो पाँव रखना असंभव है।

परन्तु क्या हमें हमेशा सत्य ही बोलना चाहिये, चाहे उससे दूसरों को दुःख ही क्यों न हो? गुरुदेव इसे इस तरह समझाते थे : “आप रास्ते से किसी अंधे आदमी को जाते देखते हैं और सत्यप्रियता की अपनी जिद में आप उसे पुकारते हैं, ‘ए अंधे! जरा एक मिनट के लिये रुक!’ तो वह क्रूरता है।” अपनी बुद्धि का प्रयोग करो और समझो कि सत्य बोलने का अर्थ क्या है।

एक बार ऐसा हुआ कि किसी ने किसी और के बारे में कुछ भला-बुरा कहा और यह बात गुरुदेव तक पहुँची। गुरुदेव ने जब उस व्यक्ति से इसके बारे में पूछा तो उसने कहा : “मुझसे एक प्रश्न पूछा गया था और मुझे लगा कि

मुझे उत्तर में सत्य बताना चाहिये।" अब यहाँ पर इस व्यक्ति को दूसरे किसी के बारे में अपना मत बताने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि वह बात उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं आती थी और सब तथ्यों से भी वह परिचित नहीं था। यह उसे समझाने के बाद आध्यात्मिक सत्यनिष्ठा के तत्त्व को उसे समझाने के लिये गुरुदेव ने एक उदाहरण दिया। उन्होंने कहा : "कल्पना करो कि एक आदमी हाथ में छुरा लेकर किसी का पीछा कर रहा है। तुम वहाँ खड़े हो। छुरा हाथ में लिये वह चोर तुमसे पूछता है कि भागने वाला वह आदमी किस तरफ गया और तुम बता देते हो, 'वह उस पेड़ में जा छुपा है।' तुम सत्यनिष्ठ रहे लेकिन तुम्हारे इस उत्तर का परिणाम भयंकर होगा। इसलिये इस प्रकार की सत्यनिष्ठा उचित नहीं है। इसमें कहीं अधिक अच्छा होगा चुप रह जाना या दूसरी दिशा में ऊँगली भी दिखा देना बजाय इसके कि तुम कुछ ऐसा करो जिससे बुराई को बढ़ावा मिले।" इस सापेक्ष जगत में हमें बुद्धि से ही काम लेना चाहिये।

सबसे पहले अपने अंतःकरण में ईश्वर के साथ सत्यनिष्ठ रहने का प्रयत्न करो। उसके सामने, जो तुम हो उसके अतिरिक्त और कुछ बनने का ढोंग मत करो। वह तुम्हें पहले

से ही अच्छी तरह जानता है। उसे तुम्हारा जो आकलन हुआ है उसे पहचानने का प्रयत्न करो। अपना बचाव करने की कोशिश करने के बजाय अपनी गलतियों को उसे अर्पण कर दो : "हे प्रभु! मैं धीरज खो कर क्रोधित हो उठा। मैं जानता हूँ कि यह गलत है क्योंकि जब मैं क्रोधित हुआ तब से अब मेरे मन में कोई शांति नहीं रही। मुझे क्षमा कर दो।"

यदि आप सच्चे हृदय से यह करेंगे तो ईश्वर के समक्ष अपना हृदय खोलने से आपको अच्छा लगेगा, जैसे पिता या माता या किसी भी अन्य प्रियजन के समक्ष हृदय खोलने से अच्छा लगता है। जब आप ईश्वर से या अपने आप से छुपते फिरते हैं तब धीरे-धीरे अंतःकरण की गहराइयों में अपराध बोध की भावना बढ़ती जाती है। फिर ऐसा समय भी आता है जब आप ईश्वर के सामने जाने से डरते हैं; अपने ही अन्दर झाँकने से भी डरते हैं क्योंकि आपको लगता है कि वहाँ कुरूपता और गंदगी ही भरी हुई है और आप उसे देखना नहीं चाहते। ऐसे लोगों को प्रायः मनश्चिकित्सक के उपचार की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि तटस्थ भाव से अपने आपको देखने का सामर्थ्य उन्होंने खो दिया होता है।

ध्यान से ईश्वर के बारे में और उसकी असीम करुणा के बारे में तथा उसके साथ अपने संबंध के बारे में सम्यक ज्ञान प्राप्त होता है। धीरे-धीरे मनुष्य मनोवैज्ञानिक समस्याओं के उन सब आवरणों को उतार फेंकना शुरू करता है जो उसे ईश्वर से अलग रखते हैं। ध्यान के माध्यम से अन्ततः आप अपना सत्यनिष्ठ अवलोकन कर पायेंगे और किसी प्रकार की कोई अपराध बोध की भावना आपके मन में नहीं उठेगी, न ही ईश्वर से किसी प्रकार का कोई डर आपको लगेगा। आप अपने दोषों को एक-एक करके आत्मा के गुणों में परिवर्तित कर देंगे।

धैर्य और निश्चय

धीरज खोना भी चरित्र का एक दोष है। हम सभी कभी-कभी धीरज खो देने की गलती करते हैं, विशेषतः जब हम अत्यधिक दबाव में होते हैं। यह एक सहज मानवी प्रतिक्रिया है। परन्तु यह कमजोरी दूसरों के साथ संबंध रखने में और आध्यात्मिक प्रगति करने में एक गंभीर बाधा बन जाती है।

जो व्यक्ति धीरज रखना नहीं जानता, वह ईश्वर की खोज में दृढ़ नहीं रह पायेगा। उसके लिये तो दिव्य दृढ़ता की

आवश्यकता पड़ती है जैसे गुरुदेव अपने एक गीत में व्यक्त करते हैं : “दुःख की वादी में हजार साल या कल तक, मैं राह देखूँगा तेरी, तेरी, तेरी — केवल तेरी।”^{*} धीरज इसे कहते हैं : “कोई बात नहीं, प्रभु! आप अभी मेरे पास आएँ या हजार वर्षों बाद, मैं इसी तरह आपकी खोज करता ही जाऊँगा।” ऐसा धैर्य, ऐसी प्रेमपूर्ण दृढ़ता ईश्वर को आप के पास खींच ले आयेगी। परन्तु यदि आप धमकी देते हैं कि एक विशिष्ट कालावधि में भगवान आपके पास नहीं आये तो आप उन्हें पाने के प्रयास छोड़ देंगे, तो आपने स्वयं पहले ही अपनी विफलता निश्चित कर ली है। भगवान किसी शर्त के आगे नहीं झुकते। वे तभी आयेंगे जब वे उसके लिये तैयार होंगे और उससे भी बढ़कर, जब हम उनके आने के लिये तैयार होंगे। उनके आने पर हम यदि कोई शर्त या समय की सीमा लगाते हैं तो उनकी ओर से किसी प्रकार के उत्तर की कोई आशा नहीं की जा सकती। धीरज रखना आवश्यक है।

गुरुदेव ने हमें धैर्य रखने का अभ्यास करवा कर धैर्यवान बनाया। एक बार उन्होंने मुझे और एक दूसरी

^{*} योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित श्री श्री परमहंस योगानन्द की कॉस्मिक चान्ट्स पुस्तक से।

शिष्या को सान फ्रांसिस्को के गोल्डन गेट ब्रिज पर कई घंटों तक प्रतीक्षा करते खड़ा रखा। जब हम वहाँ खड़े-खड़े थक गयीं तो लोग क्या कहेंगे इस बात की चिंता छोड़कर हम दोनों पुल के किनारे बनी छोटी-सी दीवार पर बैठ गयीं। जब गुरुदेव ड्राइवर के साथ कार में हमें लेने आये तब तक अत्यंत तीक्ष्ण ठण्डी हवा चलनी शुरू हो गयी थी। मुझे लगा कि मैं नीली पड़ती जा रही हूँ और ठंड से अकड़कर मरनेवाली हूँ! परन्तु मैंने न तो गुरुदेव से कोई शिकायत की और न ही किसी प्रकार से कोई नाराजगी व्यक्त की। एक अन्य अवसर पर गुरुदेव अपने साथ कुछ लोगों को, जिनमें मैं और मेरा भाई डिक राइट भी थे, १९३३* के शिकागो विश्व मेले में ले गये। वे मेरे भाई को अपने साथ ले कर मेले में घूमने चले गये और मुझे एक स्थान पर छोड़ गये। कई घंटे बीतने के बाद ही दोनों वापस आये। मुझसे कह गये थे, “इधर-उधर मत चली जाना।” इसलिये मुझे जिस इमारत में वे छोड़ गये थे उस इमारत के

* परमहंसजी शिकागो में चल रही विश्व धर्म सभा में १० सितम्बर १९३३ को व्याख्यान देने गये थे। उसी समय शिकागो में विश्व मेला भी चल रहा था।

व्यतिरिक्त मैं मेले में कुछ देख भी नहीं पायी। और वह इमारत भी कौन सी तो फोर्ड मोटर्स की, जिसमें मुझे कोई रुचि नहीं थी!

ऐसे प्रशिक्षण में मन में यह विचार उठ सकता है कि यह उचित नहीं है, यह ज्यादाती है। मुझे लगता है ऐसी परिस्थितियों में अधिकांश लोग धीरज खोकर गुस्से से भर उठते। जिसमें ऐसी प्रवृत्ति और आध्यात्मिक सूझ-बूझ का ऐसा अभाव होता, वह अधिक समय तक गुरुदेव के पास नहीं टिक सकता था। हमारे गुरु के लिये यह अधिक महत्त्वपूर्ण था कि हम उन गुणों को विकसित करें जो ईश्वर को पाने के लिये आवश्यक हैं। उनके लिये यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती थी कि हम आराम में हैं या नहीं या हमारी क्षुद्र इच्छा-आकांक्षाओं की पूर्ति हो रही है या नहीं। मुझे गुरुदेव के अनुशासन पर और मेरे चरित्र को ढालने में उनके द्वारा बरती गयी कठोरता पर गर्व है और मैं इस के लिये उनकी अत्यंत कृतज्ञ हूँ क्योंकि इस सब के बिना आंतरिक पूर्णता, शक्ति, प्रेम और आनन्द जो मेरे जीवन में अभी व्याप्त हैं, इनके साथ मेरा दूर-दूर से भी परिचय तक न हो पाता।

घृणा एवं क्रोध आंतरिक जीवन को धीरे-धीरे कुतर डालते हैं

घृणा खतरनाक रूप से घातक स्वभावगुण है। हृदय में यदि घृणा हो तो ईश्वर के साथ संबंध अनुभव कर पाना असंभव है। घृणा नितान्त शक्तिशाली भाव है; उससे बड़ी शक्ति केवल एक ही भाव में है — प्रेम में। जब हृदय में घृणा का वास होता है तो वह नकारात्मक भाव आध्यात्मिक जीवन के मर्मस्थल को ही कुतरना शुरू कर देता है। यह मानव स्वभाव की सबसे कठिन परीक्षाओं में से एक है।

जब ईसा मसीह के शत्रु इतनी निर्दयतापूर्वक उनके शरीर को विदीर्ण कर रहे थे, तब यदि ईसा चाहते तो उनकी प्रतिक्रिया अत्यंत घृणाभरी हो सकती थी। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने हृदय की विशालता, करुणा और दिव्य प्रेम जैसे आत्मा के उन गुणों को प्रयोग में लाया जो प्रत्येक जीव का वास्तविक स्वभाव है।

यदि आपके हृदय में किसी के लिये घृणा भरी हुई है तो उसे आप कितना ही उचित क्यों न माने, इस बात को पक्का समझ लीजिये कि जब तक आप उस घृणा भाव को

अपने हृदय से बाहर नहीं निकालते, तब तक आप स्वयं ही उस सन्ताप की आग में जलते रहेंगे। जिसका हृदय ऐसी जहरीली तरंगों का माध्यम बना हुआ हो, वह ईश्वर को हरगिज़ नहीं जान सकता।

क्रोध घृणा का ही मौसेरा भाई है। जब हमें लगता है कि हमें चोट पहुँचायी गयी है या हमारे साथ अन्याय किया गया है, तब सहज मानवीय प्रतिक्रिया के रूप में यह उभरता है — जैसे हमारे द्वारा कही गयी बात को तोड़-मरोड़ कर फिर हमारे ही सामने लाया जाता है या हमारे बारे में कोई तथ्यहीन बातें करता है। घृणा की तरह ही क्रोध या हृदय में भरा हुआ आक्रोश भी आपके आध्यात्मिक जीवन को ध्वस्त कर देगा। जिस क्षण क्रोध आपके मन में प्रवेश करता है उसी क्षण ईश्वर की उपस्थिति का बोध आपके मन से बाहर निकल जाता है। अपनी चेतना से इस भाव को पूरी तरह मिटा दो। जब-जब वह अन्दर आने का प्रयास करता है, तब-तब उसे निकाल बाहर करो।

ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा की भावना को मिटा दो

ईर्ष्या गहरी असुरक्षा की भावना का परिणाम है। जब

ईश्वर के साथ सम्पर्क का अनुभव होता है तब ईर्ष्या का कोई कारण ही हमें नज़र नहीं आता। तब हमारे पास जो भी है उसी में हम पूर्ण संतुष्टि अनुभव करते हैं क्योंकि हमें यह बोध हो जाता है कि वह हमें भगवान से मिला है। दूसरे किसी की किसी वस्तु की हमें कोई चाह नहीं रहती क्योंकि हम पूर्णता अनुभव करते हैं, और किसी चीज़ की आवश्यकता ही नहीं रहती। सांसारिक मानसिकता के लोगों में ईर्ष्या सामान्य तौर पर रहती है, परन्तु जो लोग ईश्वर की खोज में लगे हैं उनके हृदयों में यह पनप नहीं सकती। गुरुदेव ने ईर्ष्या से संबंधित एक ऐसा उदाहरण दिया था जिसे मैं कभी भूली नहीं। कुछ शिष्यों को उन्होंने ने कहा था : “यह मेरा हाथ और इसकी ये पाँच ऊँगलियाँ हैं। यह ऊँगली उस ऊँगली का स्थान नहीं ले सकती और वह ऊँगली दूसरी किसी ऊँगली का स्थान नहीं ले सकती। मुझे अपना काम करने के लिये इन सभी की आवश्यकता है। तुम में से प्रत्येक का मेरे हृदय में और ईश्वर के प्रेम में अपना-अपना यथायोग्य स्थान है।” और प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार और समाज में अपना उचित स्थान मिलेगा यदि वह अपना यथायोग्य योगदान दे। इसलिये ईर्ष्या का कोई औचित्य ही नहीं।

प्रतिस्पर्धा की भावना या मत्सर भी ईर्ष्या से लगभग मिलता-जुलता ही है। कभी-कभी गुरुदेव जानबूझकर किसी शिष्य को कुछ दे देते और दूसरों की पूरी उपेक्षा करते। जो लोग गुरुदेव को जानते-समझते थे वे तो समझ जाते थे कि वे ऐसा केवल इसलिये करते थे कि शिष्यों में अन्दर छुप कर बैठी हुई कोई मत्सर की भावना हो तो वह ऊपर आ जाय ताकि उसे पहचान कर हटा दिया जा सके।

मैं एक उदाहरण आपको देती हूँ : गुरुजी हर वर्ष क्रिसमस पर हम शिष्यों को छोटे-छोटे उपहार दिया करते थे और उन सब उपहारों में सबसे छोटा उपहार मुझे ही हमेशा देते थे। पहली बार जब यह हुआ तो मैं सोच में पड़ गयी कि ऐसा क्यों? मैंने सोचा : “हो सकता है वे मुझे दूसरे शिष्यों जितना नहीं चाहते।” फिर मुझे अपने आप पर अत्यंत शर्म आयी कि ऐसा सोचना कितना लांछनास्पद है। ऐसा सोचना बेशक सहज मानवीय है परन्तु इस प्रकार का ओछापन मैं न अपने आप में देखना चाहती थी न दूसरे किसी में। इसलिये फिर मैंने इस बात का विश्लेषण किया। “इससे तुम्हें क्या सचमुच कोई फर्क पड़ता है? तुम्हें तो

कभी किसी भौतिक वस्तु की चाह भी नहीं थी! तुम्हारी इच्छा केवल इतनी ही है कि गुरुदेव के मन में तुम्हारा स्थान हो। क्रिसमस के उपहारों के माध्यम से यह प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता तो नहीं!" उसी क्षण मेरी समझ में आ गया कि मत्सर भाव को हटाने का मतलब क्या होता है। तब से फिर कभी मैंने उस भाव को अपने मन में आने नहीं दिया।

गुरुदेव ईर्ष्या और मत्सर को कभी सहन नहीं करते थे। जो शिष्य उनके करीब रहना चाहते थे उनमें इस प्रकार की आत्मकेंद्रितता वे कभी बरदाश्त नहीं करते थे। वे कहते थे : "केवल अपनी थाली पर ही दृष्टि रखो और दूसरों की थाली में क्या है इस ओर कभी कोई ध्यान मत दो। तुम्हें केवल वही मिल सकता है जो तुम्हारा अपना है और वह हर हालत में तुम्हें मिल कर ही रहेगा।" यह मेरे लिये एक बहुत बड़ा सबक था — कि गुरुदेव का संबंध दूसरे शिष्यों के साथ कैसा है इससे सचमुच मुझे कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये। मेरे लिये केवल इसी बात का महत्त्व होना चाहिये कि भगवान और गुरु के साथ मेरा संबंध अधिकाधिक गहरा हो रहा है या नहीं।

ईश्वर-खोज में अपने आप को प्रोत्साहित करना

हमें जीवन से बिलकुल वही मिलता है जो हम इसमें डालते हैं। इसलिये यदि अपनी ईश्वर-खोज में या अन्य भी किसी प्रयास में हमें सफल होना है तो हमें आलस को जीतना ही होगा। गुरुजी ने कहा है : “शारीरिक स्तर पर जो आलसी हो उसे तो मैं क्षमा कर सकता हूँ परन्तु मानसिक स्तर पर भी जो आलसी हो उसे मैं क्षमा नहीं कर सकता।” शारीरिक आलस के लिये कोई स्वास्थ्य से संबंधित कारण हो सकता है परन्तु मानसिक आलस का अर्थ ही है इच्छा या उत्साह का अभाव। आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले किसी के लिये भी ऐसा जड़बुद्धि, अनुत्साही मन होने का कोई बहाना ही नहीं हो सकता कि वह ईश्वर की खोज करने का गहन प्रयास न कर सके। यदि हम पूर्ण हृदय के उत्साह के साथ और दिव्य उमंगों के साथ अपने काम को, अपने ध्यान को और अन्य जिम्मेदारियों को पूरा नहीं करते तो ईश्वर हमें कभी नहीं मिल सकते, न ही वह सच्चा सुख हमें कभी प्राप्त हो सकता है जिसकी हमें इच्छा है। यह हो नहीं सकता। यह उत्साह और उमंग हमें कोई

दूसरा कभी नहीं दे सकता : हमें ही अपनी मानसिक वृत्ति बदलनी होगी।

अमेरिका में गुरुदेव के कार्य के शुरूआती वर्षों में मैं जब यहाँ एक युवा शिष्या मात्र थी, तब प्रायः मैं अपने मनोभावों का और इरादों का विश्लेषण किया करती थी क्योंकि मैं देखती थी कि जो भी यहाँ अधमने भाव से या निरुत्साही रहते थे मानो केवल समय काट रहे हों, उनमें कुछ अभाव-सा प्रतीत होता था। वे अधिकाधिक अच्छे नहीं बन रहे थे। वे ईश्वर की ओर नहीं बढ़ रहे थे। परन्तु यह बात भी मैं समझती थी कि कोई ईश्वर की खातिर आया है या नहीं यह देखना मेरा काम नहीं था। मैं ईश्वर के लिये आयी थी और मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं अपना समय बर्बाद नहीं करूँगी, इस मामले में स्वार्थी ही रहूँगी कि यदि दूसरों की संगत में मुझे वह प्रेरणा नहीं मिलती तो मैं अकेली ही रहूँगी। मैंने अपना मन ईश्वर पर ही लगा कर रखा। इस प्रकार मैं रही और उसी अकेलेपन और स्थिर उत्साह से महान ज्ञान और शक्ति की मुझे प्राप्ति हुई।

टाल-मटोल करना आलसीपन का ही लक्षण है। जो यह करते हैं वे कहते हैं : “कल मैं दृढ़ प्रयास करूँगा पर

आज मैं जैसा हूँ वैसा ही रहना चाहता हूँ।" आपके जीवन के अंत तक यह चलता रह सकता है। जो करना चाहिये उसे जो आगे-आगे ढकेलता जाता है वह कभी भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचता। जो भी कर सकते हो, अपना सर्वोत्तम प्रयास करो, अभी करो, आज और आज के बाद प्रतिदिन!

सकारात्मक सोच के द्वारा नकारात्मक परिस्थितियों से ऊपर उठो

नकारात्मक सोच आत्मा पर कैंसर के समान है। गुरुदेव ने लिखा है : "भव सागर घोर अन्धेरा और तारे डूब गये, फिर भी राह दिख रही है मुझे तेरी दया से।"* किसी भी प्रयास में सफलता के लिये सकारात्मक सोच का होना नितान्त आवश्यक है, विशेषकर आध्यात्मिक पथ पर तो यह और भी अधिक आवश्यक है।

इस द्वयात्मक जगत में हर चीज़ के दो पक्ष होते हैं। उदाहरण के लिये, हाथ का या सिक्के का एक पक्ष होता है

* श्री श्री परमहंस योगानन्द की पुस्तक कॉस्मिक चान्ट्स से।

तो दूसरा भी होता ही है। केवल एक पक्ष या एक बाजू हो नहीं सकती। उसी प्रकार प्रत्येक परिस्थिति को देखने के भी दो पक्ष होते हैं : सकारात्मक और नकारात्मक। हमेशा सकारात्मक पक्ष को ही देखने का ध्यान रखो। कभी भी नकारात्मकता में डूबे मत रहो क्योंकि यदि रहोगे तो तुम्हारे मन में कभी शांति नहीं रहेगी और ईश्वर से सम्पर्क कर पाना बहुत कठिन हो जायेगा।

कभी-कभी लोग कहते हैं : “मैं ध्यान करने का और ईश्वर की अनुभूति करने का प्रयास करता हूँ परन्तु लगता है कहीं भी पहुँच नहीं पा रहा हूँ।” मैं उनसे पूछती हूँ : “क्या आप का मन सचमुच सकारात्मक सोच की दिव्य शक्ति से भरा रहता है?” नकारात्मक वृत्ति के लोगों का मन सदैव अशांत और निरुत्साहित होता है। गुरुदेव ने एक बार कहा था कि सकारात्मक सोच में ही साधारण मनुष्य और दैवी मनुष्य के बीच का अन्तर निहित है। इस में कोई दो मत नहीं कि इस संसार में असंख्य गलत बातें हैं। परन्तु हमें ऐसा नहीं लगना चाहिये कि हम असहाय हैं। बाह्य परिस्थितियों द्वारा हमारे मन के नीचे घसीटे जाने का जम कर प्रतिकार हमें करना ही होगा।

नकारात्मक और बुरे विचार कहाँ से आते हैं ?

अत्यंत बुरे प्रकार के विचार कभी-कभी अवचेतन मन से उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर मुझे किसी ने हाल ही में लिखा था : “जब भी मैं ध्यान करने बैठता हूँ तो अत्यंत अश्लील, बेकार विचार मेरे मन में उठते हैं। जब मैं ध्यान करने का प्रयास करता हूँ तभी ऐसा क्यों होता है ?” इस प्रश्न के लिये मेरा उत्तर यह है : इसका कारण अत्यंत सरल है और वह है कि तुम ध्यान नहीं कर रहे हो। जीवन में पहली बार, शायद कई जन्मों में पहली बार, तुम अन्दर उतर कर अपने को पहचानना सीख रहे हो। मन अतीत के सभी अनुभवों का भण्डार गृह है जिसमें नकारात्मक विचार, बुरे विचार, परनिंदा, सांसारिकता आदि सब भी संग्रहित है। अगर मन में इस तरह के अनाध्यात्मिक संस्कारों की भरमार है तो यह स्वाभाविक ही है कि जब तुम पहली बार अन्दर झाँकोगे तो इन्हीं सब का दर्शन होगा।

ध्यान का प्रयास करने वाले नये-नये साधक की चेतना मैले पानी से भरे गिलास के समान होती है। परन्तु जैसे-जैसे आप मन को स्थिर करने का अभ्यास करते जाते हैं वैसे-वैसे धीरे धीरे गंदे विचारों की मैल नीचे बैठनी या पूरी तरह

गायब होनी शुरू होती है और दिव्य अनुभूतियों का स्वच्छ जल प्रकट होने लगता है। पानी मूलतः स्वच्छ और शुद्ध ही होता है। वह तो केवल जब उसमें कीचड़ घुल जाती है तब वह मैला दीखता है। वैसे ही मनुष्य की चेतना भी मूलतः शुद्ध ही होती है परन्तु नकारात्मक सोच, फालतू विचार, परनिंदा, ईर्ष्या, मत्सर, घृणा और उन सब नकारात्मक गुणों से, जिनकी चर्चा हमने की है, उसकी शुद्धता ढक जाती है। जब आप ध्यान में मन को शांत करना सीखेंगे तब आप देखेंगे कि आपकी चेतना का जल फिर से शुद्ध होने लगेगा।

ईश्वर के साथ अपने संबंध को त्रुटिहीन बनाने पर अपनी सारी शक्तियाँ केन्द्रित करें

आध्यात्मिक निर्देशों का बार-बार पुनरवलोकन करते रहना चाहिये। गुरुदेव इसी प्रकार कभी-कभी हमें एकत्र बुलाते थे और आध्यात्मिक सफलता के लिये आवश्यक गुणों पर बोलते थे। इन आध्यात्मिक आवश्यकताओं के मूल में हमारा सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है — ईश्वर के साथ अपने संबंध को त्रुटिहीन बनाने पर, ईश्वर के लिये अपने प्रेम को त्रुटिहीन बनाने पर अपनी सारी शक्तियाँ केन्द्रित करना। हम

यह कभी नहीं कर पायेंगे, भगवान का विचार करने का भी समय हमें नहीं मिलेगा यदि हमारा मन नकारात्मकता से भरा हो और इन सब चरित्रदोषों में उलझा हुआ हो। प्रभु से बार-बार कहो : “मैं इस संसार में अपने आप को बदलने के लिये आया हूँ। मेरी सहायता करो। आप मेरे लिये जो अनुशासन उचित समझें, वही मुझे दो। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि मैं आपसे प्रेम करता हूँ। मुझे आप चाहिये। मुझे अपने आप को त्रुटिहीन बनाना है ताकि मैं आपको पा सकूँ।”

हम किसी न किसी चीज से प्रेम किये बिना नहीं रह सकते। वह कोई चीज ईश्वर को ही बनाओ, अपने आप को नहीं, अपनी इच्छा वासनाओं को नहीं, केवल ईश्वर को ही। अपनी सारी लालसा और एकाग्रता को ईश्वर की दिशा में ही मोड़ दो। यदा-कदा शरीर और मन और अहंकार आपको नीचे खींचने का प्रयास भी करें तो उससे निराश न हों। प्रभु से मन ही मन कहते रहो : “मेरे मन में आपके प्रति प्रेम जगाओ। दर्शन दो, प्रभु, दर्शन दो।”

ईश्वर के साथ उस घनिष्ठ संबंध के लिये प्रार्थना करो जिसमें प्रभु की वास्तविकता का आप को एहसास हो और इस बात का आपको अनुभव हो कि वे आपको उत्तर दे रहे हैं। इस

से आपका सारा जीवन ही बदल जायेगा। गुरुदेव ने कई वर्ष पहले एक दिन मुझसे कहा था : “किसी दिन तुम्हारा जीवन अब से इतना भिन्न होगा, तुम्हारी चेतना इतनी भिन्न होगी कि तुम अभी जैसी हो उस रूप में अपने आप को पहचान भी नहीं पाओगी। तुम्हारे लिये वह पुनर्जन्म के समान होगा।” ऐसा ही होता है। तब आप एक ही बात जानते हैं, आपके मन में एक ही इच्छा होती है : “मैं आप पर अपना जीवन न्यौछावर करती हूँ, मेरे प्रभु!” उसमें कितना आनन्द है। वह कोई थका देने वाला परिश्रमपूर्ण कार्य नहीं होता। ईश्वर जैसे चाहे आपका उपयोग करे, इसमें असीम आनन्द मिलता है। तब आपकी यही इच्छा होती है कि काश आपके पास उनके नाम का घोष करने के लिये करोड़ों मुख होते, उनके प्रेम को प्राप्त करने के लिये और व्यक्त करने के लिये कोट्यवधि हृदय होते।

अपने जीवन में अधिकाधिक अच्छा करते जाने का और अपने जीवन को हर प्रकार से आध्यात्मिक बनाने का प्रयास कभी मत छोड़ो। याद रखो कि संत और पापी में केवल इतना ही फर्क है कि संत ने कभी अपना प्रयास नहीं छोड़ा था।





लेखिका का परिचय

श्री श्री परमहंस योगानन्द के अमेरिका में आरम्भिक काल से ही उनके निकटतम शिष्यों में से एक रहीं श्री दया माता अब योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप की संघमाता एवं अध्यक्ष हैं।

दया माता जी परमहंस योगानन्द जी से 17 वर्ष की आयु में प्रथम बार मिलीं जब वे अपने शहर साल्ट लेक सिटी, उटा, यू.एस.ए. में परमहंस जी द्वारा दी जा रही एक व्याख्यान शृंखला में एक दिन उपस्थित हुईं। उनका व्याख्यान सुनते हुए

दया माता जी अपने अंतर्मन में सोच रही थीं : “ये भगवान से उसी तरह प्रेम करते हैं जिस तरह मैंने हमेशा ही प्रभु से प्रेम करना चाहा है। ये ईश्वर को जानते हैं। मैं इन्हीं की अनुयायी बनूँगी।” इस के कुछ ही दिन बाद उन्होंने श्री श्री परमहंस योगानन्द के लॉस ऐंजिलिस स्थित आश्रम में संन्यासिनी के रूप में प्रवेश किया। योगानन्द जी के साथ दो दशकों से भी अधिक काल के दैनंदिन संबंध के दौरान दया माता जी ने उनके निजी सचिव के रूप में कार्य किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे परमहंस योगानन्द जी ने उन्हें उत्तरोत्तर अधिकाधिक आध्यात्मिक एवं प्राबन्धिक उत्तरदायित्व सौंपे। शुरू से ही गुरुदेव ने उन्हें विशेष भूमिका निभाने के लिये तैयार करना आरंभ किया और दूसरे शिष्यों को उनका अनुसरण करने का प्रोत्साहन दिया।

श्री श्री परमहंस योगानन्द की आध्यात्मिक उत्तराधिकारी के रूप में दया माता जी ने अपने गुरु की शिक्षाओं के प्रसार एवं योगदा सत्संग/सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप मंदिरों, केन्द्रों तथा आश्रमों की स्थापना के सम्बन्ध में योगानन्द जी ने जो इच्छा तथा आदर्श व्यक्त किये थे, उन्हीं के अनुसार 1955 से निष्ठापूर्वक उनकी संस्था का मार्गदर्शन किया है।

उन्होंने प्रवचन देते हुए समस्त विश्व के कई दौर किये हैं; भारत में भी व्याख्यान-प्रवचन करते हुए कई दिन बिताये हैं। श्री श्री दया माता के नेतृत्व में परमहंस योगानन्द जी का प्रवर्तनात्मक आध्यात्मिक कार्य उनके अपने देश भारत तथा विश्व के सभी देशों में फूला-फला है। उनके प्रवचनों एवं अनौपचारिक सत्संगों का संग्रह "Only Love" नाम से प्रकाशित किया गया है। उनके कई प्रवचनों के ऑडियो कैसट भी उपलब्ध हैं।

दया माता जी अपने नाम के अनुसार ही सचमुच दया की मूर्ति हैं। उन्होंने सभी धर्मों के और जीवन के सभी क्षेत्रों के लोगों को प्रेरणा दी है। अमेरिका में भारत के भूतपूर्व राजदूत श्री बिनय रंजन सेन लिखते हैं, "अन्यत्र कहीं भी परमहंस योगानन्द जी की विरासत इतने तेज के साथ दीप्तिमान नहीं होती जितनी वह उनकी संतवत् शिष्या दया माता जी में होती है जिन्हें उन्होंने अपने निर्वाण के पश्चात् अपने ही पद-चिन्हों पर चलने के लिये तैयार किया था ...। मेरी तरह जिन महाभागों को परमहंस जी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था उन्हें दया माता जी में भी वही दिव्य प्रेम और करुणा व्यक्त हुई दीख पड़ती है।"

श्री श्री दया माता के प्रवचनों की ऑडियो कैसट्स

A Heart Aflame

Living a God-Centred Life

Strengthening the Power of the Mind

Karma Yoga: Balancing Activity

and Meditation

The Way to Peace, Humility, and Love for
God

“My Spirit Shall Live On...”: The Final Days
of Paramahansa Yogananda

विडियो कैसट

Security in a World of Change

श्री श्री परमहंस योगानन्द

(1893-1952)

“ईश्वर-प्रेम तथा मानव-सेवा के आदर्श ने परमहंस योगानन्द के जीवन में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पायी ... । यद्यपि उनके जीवन का अधिकतर हिस्सा भारत के बाहर व्यतीत हुआ, तब भी उनका स्थान हमारे महान संतों में है। हर जगह परमात्मा प्राप्ति के मार्ग पर लोगों को आकर्षित करता हुआ उनका कार्य निरन्तर वृद्धिगत एवं अधिकाधिक दीर्घमान हो रहा है।”

इन शब्दों में भारत सरकार ने योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया / सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप के संस्थापक श्री श्री परमहंस योगानन्द को उनकी महासमाधि की पचीसवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में 7 मार्च 1977 को उनके सम्मान में एक स्मृति टिकट जारी करते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

जगद्वंद्व महान गुरु श्री श्री परमहंस योगानन्द ने, जिनका शिष्य समुदाय मानवजाति के सभी वर्ण-वर्गों में फैला हुआ है, और जिनकी इस जगत में उपस्थिति ने अगणित लोगों के लिये ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त कर दिया, उच्चतम सत्त्यों को ही अपना जीवन बनाया और उन्हीं की शिक्षा दी। परमहंस योगानन्द जी का जन्म 1893 में गोरखपुर में हुआ था। 1920

में उन्हें उनके गुरु ने अमेरिका में हो रहे उदारवादियों के विश्व धर्म सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भेजा। सम्मेलन के पश्चात् बोस्टन, न्यू यॉर्क, फिलाडेल्फिया में दिये गये उनके व्याख्यानों का अत्यंत उत्साह के साथ भव्य स्वागत हुआ, और 1924 में उन्होंने सम्पूर्ण अमेरिका में दौरे करते हुए व्याख्यान दिये।

अगले दशक में परमहंस जी ने व्यापक यात्राएँ कीं जिनमें उन्होंने अपने व्याख्यानों और कक्षाओं के दौरान हजारों नर-नारियों को ध्यान के यौगिक विज्ञान एवं संतुलित आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा प्रदान की।

1917 में योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया तथा 1925 में लॉस एंजलिस (यू.एस.ए.) में सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप के अंतर्राष्ट्रीय मुख्यालय की स्थापना के साथ जो कार्य उन्होंने शुरू किया, वह आज श्री श्री दया माता के मार्गदर्शन में चल रहा है। परमहंस योगानन्द जी की रचनाएँ, उनके व्याख्यान, कक्षाएँ, अनौपचारिक भाषण इत्यादि का प्रकाशन करने के साथ-साथ (जिसमें क्रिया योग ध्यान पर विस्तृत पाठमाला शामिल है), यह सोसाइटी योगदा सत्संग/सेल्फ-रियलाइजेशन मंदिरों, आश्रमों एवं ध्यान केन्द्रों की देखभाल करती है जो सारे विश्व में फैले हुए हैं। इसके अलावा यह संन्यास प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं विश्व प्रार्थना मंडल का भी

संचालन करती है जो आवश्यकताग्रस्तों की दैवी सहायता तथा सारे विश्व के लिये सामंजस्य एवं शांति के माध्यम का कार्य करती है।

क्विंसी हौवे, ज्यूनियर, पी.एच.डी., पुरातत्व भाषाओं के प्रोफेसर, स्क्रिप्स कॉलेज, ने लिखा है : “परमहंस योगानन्द जी पश्चिम में केवल भारत का ईश्वर-साक्षात्कार का चिरन्तन आश्वासन ही नहीं लाये, अपितु एक व्यावहारिक पद्धति भी लाये जिसका अनुसरण करके जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्यरत आध्यात्मिक अभिलाषी उस लक्ष्य की ओर तेजी से अग्रसर हो सकते हैं। भारत की यह आध्यात्मिक विरासत जो पश्चिम में पहले अति गूढ़ एवं जटिल समझी जाती थी, अब उन सबकी पहुँच में अभ्यास एवं अनुभूति के रूप में आ गयी है जो ईश्वर को जानने की अभिलाषा रखते हैं, परलोक में नहीं, अपितु यहाँ और अभी ...। श्री योगानन्द ने ध्यान की उच्चतम प्रविधियों को सब की पहुँच के अन्दर लाकर रख दिया है।”

परमहंस योगानन्द के जीवन एवं उनकी शिक्षाओं का वर्णन उनकी आत्मकथा “योगी कथामृत” में उपलब्ध है, जो 1946 में उसके प्रकाशन के बाद आध्यात्मिक क्षेत्र में गौरव ग्रन्थ बन गयी है तथा अब विश्व भर में कई महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग में लायी जा रही है।

शब्दावली

अवतार — यह शब्द अवतरण से बना है जिसका संस्कृत में अर्थ है नीचे आना या उतरना; विशेषतः ईश्वर या ईश्वरीय शक्तियों का शरीर में उतरना। जो परब्रह्म के साथ एक हो जाता है और फिर मानवजाति की सहायता के लिये शरीर धारण कर इस जगत् में आता है उसे अवतार कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार — ईश्वर के सर्वव्यापी चैतन्य के साथ एकाकार आत्मा के रूप में अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होना। श्री श्री परमहंस योगानन्द ने लिखा है : “आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है अपने शरीर, मन एवं आत्मा में यह जान लेना कि हम ईश्वर की सर्वव्यापिता के साथ एक हैं; कि हमें अपने पास उसे बुलाने के लिये प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, कि हम न केवल सदैव उसके सान्निध्य में हैं, बल्कि ईश्वर की सर्वव्यापिता ही हमारी अपनी सर्वव्यापिता है; कि हम उसके अभी भी उतने ही अभिन्न अंग हैं जितने कभी हो सकते हैं। हमें केवल इतना ही करना है कि अपने बोध को विकसित करें।”

ओम् (ॐ) — परमतत्त्व के सृजन एवं पालन करने वाले पहलू का, अर्थात् ब्रह्मनाद या ब्रह्माण्डीय स्पंदन का संकेत करनेवाला बीज शब्द या बीज ध्वनि। वेदों का ओम्, तिब्बतियों का हुम्, मुसलमानों का आमीन और मिश्रवासी, यूनानी, रोमन, यहूदी तथा ईसाइयों का आमेन बना। विश्व के सभी महान धर्म कहते हैं कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ओम् या आमेन या शब्द या पवित्रात्मा की स्पन्दनात्मक ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से उत्पन्न हुई है। “आरम्भ में केवल शब्द था और शब्द ईश्वर के पास था और शब्द ही ईश्वर था हर वस्तु का सृजन उसी [शब्द या ओम्] ने किया था; और जो भी बना है उसमें उसके बिना कुछ भी नहीं बना।” (बाइबिल : यूहन्ना 1:1, 3)।

कूटस्थ केन्द्र — भूमध्य में स्थित एकाग्रता एवं इच्छा शक्ति का केन्द्र; कूटस्थ चैतन्य एवं दिव्य चक्षु (इसी शब्दावली में अन्यत्र देखें) का स्थान।

कूटस्थ चैतन्य — समस्त सृष्टि में व्याप्त ईश-चैतन्य। सृष्टि के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त इस ब्रह्म तेज को हिंदू शास्त्रों ने कूटस्थ चैतन्य कहा, ईसाई बाइबिल में इसे “एकमात्र

पुत्र” कहा गया है। यह सर्वव्यापी चैतन्य है, परब्रह्म के साथ एकरूपता है जो श्रीकृष्ण, जीसस तथा अन्य अवतारों में प्रकट हुई। महान सन्तजन एवं योगीजन इसे समाधि (इसी शब्दावली में अन्यत्र देखें) की अवस्था के रूप में जानते हैं जब उनकी चेतना सृष्टि के कण-कण में व्याप्त प्रज्ञा या तेज के साथ एकाकार हो जाती है; तब समूचे ब्रह्माण्ड को वे अपने ही शरीर के रूप में अनुभव करते हैं।

क्रिया योग — सहस्राब्दियों पहले भारत में उद्भूत हुआ एक पवित्र आध्यात्मिक विज्ञान। यह राजयोग का ही एक रूप है। इसमें ध्यान की कुछ ऐसी उन्नत प्रविधियाँ हैं जिनके अभ्यास से साधक ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करता है। *योगी कथामृत* के 26वें अध्याय में इसका अधिक विस्तार से वर्णन है। यह योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/सेल्फ-रियलाइजेशन फेलोशिप के उन शिष्यों को सिखाया जाता है जो उसके लिये आवश्यक आध्यात्मिक योग्यताओं को पूर्ण करते हैं।

गुरु — आध्यात्मिक शिक्षक। गुरु गीता के 17 वें श्लोक में गुरु का वर्णन “अन्धकार नष्ट करने वाला” कह कर किया

है (गु से अन्धकार और रु से नष्ट करने वाला)। यद्यपि गुरु शब्द का दुष्प्रयोग प्रायः किसी भी शिक्षक के लिये किया जाता है तथापि सच्चा ब्रह्मज्ञानी गुरु वही होता है जिसने अपने आत्म-प्रभुत्व की प्राप्ति में सर्वव्यापी परमतत्त्व के साथ अपनी एकता स्थापित कर ली है। ऐसा सद्गुरु ही दूसरों का उनकी अंतरोन्मुखी आध्यात्मिक यात्रा में मार्गदर्शन करने के लिये योग्य होता है।

दिव्य चक्षु — भूमध्य में कूटस्थ केन्द्र में स्थित अंतर्ज्ञान एवं आत्मिक अनुभूति का एकमात्र नेत्र; चेतना की उच्चतर अवस्थाओं में जाने का प्रवेश-द्वार। गहरे ध्यान में यह एकमात्र नेत्र या दिव्य चक्षु एक उज्ज्वल तारे के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह तारा नीले प्रकाशगोल से घिरा रहता है, और नीला प्रकाशगोल एक देदीप्यमान स्वर्णिम प्रकाश वलय से घिरा रहता है। इस सर्वदर्शी नेत्र का उल्लेख शास्त्रों में विभिन्न नामों से किया गया है, यथा, तृतीय नेत्र, पूर्व का तारा, अंतःचक्षु, स्वर्ग से उतरता कबूतर, शिव का तृतीय नेत्र, अंतर्ज्ञान चक्षु। “इसलिये यदि तुम्हारी आँख एक हो तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से भर जायेगा।” (बाइबिल : मत्ती रचित सुसमाचार 6:22)।

परमहंस — ईश्वर के साथ अखण्ड एकरूपता की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर लेने वाले मनुष्य के लिये प्रयुक्त की जानेवाली आध्यात्मिक उपाधि। यह उपाधि किसी योग्यता प्राप्त शिष्य को केवल एक सद्गुरु ही प्रदान कर सकता है। श्री योगानन्द को यह उपाधि स्वामी श्रीयुक्तेश्वर जी ने 1935 में प्रदान की।

पुनर्जन्म — इस पर विवरण परमहंस योगानन्द जी की *योगी कथामृत* के 43वें अध्याय में दिया गया है। जैसे कि वहाँ स्पष्ट किया गया है, मानवों के गत कर्मों के परिणाम उन्हें कर्म सिद्धान्त (इसी शब्दावली में अन्यत्र देखें) के अनुसार इस भौतिक जगत् में वापस ले आते हैं। उन गत कर्मों के परिणामों को भोगने के लिये और अंत में आत्मा की अंतर्निहित परिपूर्णता एवं उसकी ईश्वर के साथ एकरूपता के ज्ञान तक पहुँचानेवाली आध्यात्मिक क्रम विकास की प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखने के लिये मानव जन्म-मृत्यु के फेरे से बार-बार गुजरते हुए बार-बार इस जगत् में आते हैं।

ब्रह्म चैतन्य — परंब्रह्म; सृष्टि से परे चैतन्य। इस संज्ञा का प्रयोग समाधि की उस अवस्था का संकेत करने के लिये भी

किया जाता है जिसमें स्पन्दनात्मक सृष्टि में व्यास और सृष्टि से परे ईश्वर के साथ तद्रूपता स्थापित हो जाती है।

भाग्य या कर्म — इस जन्म के या पिछले जन्मों के गत कर्मों के परिणाम। कर्म सिद्धान्त क्रिया और प्रतिक्रिया, कारण और परिणाम, बोने और काटने का नाम है। अपने विचारों और कर्मों से मानव अपने भाग्य के विधाता स्वयं बनते हैं। किसी व्यक्ति ने जिन शक्तियों को जाने-अनजाने में, बुद्धिमानी से या मूर्खता से गति दे दी हो, उन शक्तियों को उसी व्यक्ति के पास, आरम्भ बिन्दु होने के कारण, अपरिहार्यरूप से पूर्ण करने वाले वृत्त के समान, लौटकर आना ही होगा। किसी भी व्यक्ति के कर्म जन्म-जन्मांतर में उसका पीछा करते हैं जब तक उन्हें भोगकर समाप्त नहीं किया जाता या फिर जब तक वह व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति द्वारा उनकी पहुँच से बाहर नहीं निकल जाता। (इसी शब्दावली में पुनर्जन्म देखें)

माया — सृष्टि की रचना में अंतर्निहित एक भ्रम उत्पन्न करनेवाली शक्ति, जिसके कारण एक परमात्मा अनेक रूपों में प्रतीत होता है। माया सापेक्षता या परस्पर-सम्बद्धता,

विपर्यास, परस्पर-भेद, द्वैत, परस्पर-विपरीत अवस्थाओं का तत्त्व है। इसे ही बाइबिल के पूर्वविधान में शैतान कहा गया है। परमहंस योगानन्द जी ने लिखा है : “संस्कृत में माया शब्द का अर्थ है ‘परिमाण करनेवाला या मापनेवाला’। माया सृष्टि में एक विलक्षण शक्ति है जिसके कारण अपरिमेय और अभेद में परिमितता और भेद की विद्यमानता का स्पष्ट आभास होता है ...। ईश्वर की योजना एवं लीला में माया या शैतान का एकमेव कार्य है मनुष्य को ब्रह्म से जड़ पदार्थ की ओर, सत्य से मिथ्या की ओर मोड़ने का प्रयास करना ...। माया प्रकृति में असारता का परदा है ... ऐसा परदा जो प्रत्येक मनुष्य को उसके पीछे छिपे स्रष्टा, अपरिवर्तनीय सनातन सत्य का दर्शन करने के लिये उठाना ही होगा।”

योग — योग (संस्कृत युज् से व्युत्पन्न) शब्द का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से मिलन, सायुज्यता। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जिन विधियों या प्रक्रियाओं को प्रयुक्त किया जाता है उन्हें भी योग कहा जाता है। योग की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। जिस प्रणाली की शिक्षा परमहंस योगानन्द जी ने दी वह राजयोग या सम्पूर्ण योग है जो मुख्यतः ध्यान की

वैज्ञानिक प्रविधियों पर केन्द्रित है। योग के प्रथम व्याख्याता महर्षि पतंजलि ने अपने अष्टांग योग में आठ अंगों को क्रमबद्ध किया है जिनके अभ्यास से राजयोगी समाधि या ईश्वर-सायुज्यता प्राप्त करता है। ये आठ अंग हैं (1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान, (8) समाधि।

समाधि — आत्मिक परमानन्द; अधिचेतन अनुभव; अंततः, सर्वव्यापी परम सत्य के रूप में ईश्वर के साथ सायुज्यता।

सूक्ष्म जगत् — भौतिक सृष्टि के पीछे विद्यमान प्रकाश एवं ऊर्जा का सूक्ष्म जगत्। भौतिक जगत् के प्रत्येक जीव, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक स्पंदन का प्रतिरूप सूक्ष्म जगत् में है क्योंकि सूक्ष्म जगत् (स्वर्ग) में भौतिक जगत् की सम्पूर्ण रूपरेखा (Blue Print) विद्यमान है। सूक्ष्म जगत् और उससे भी अतिसूक्ष्म कारण जगत् या भाव जगत् का विवरण श्री श्री परमहंस योगानन्द की *योगी कथामृत* के 43वें अध्याय में दिया गया है।

श्री श्री परमहंस योगानन्द रचित अन्य पुस्तकें :

योगी कथामृत

धर्म विज्ञान

परमहंस योगानन्द के वचनमृत

ईश्वर से वार्तालाप की विधि

सफलता का नियम

आध्यात्मिक दैनंदिनी

God Talks With Arjuna: The Bhagavad Gita
(A New Translation and Commentary)

Man's Eternal Quest

The Divine Romance

Wine of the Mystic

Whispers From Eternity

Metaphysical Meditations

Scientific Healing Affirmations

Free Introductory Literature

Detailed instruction in the scientific techniques of meditation taught by Sri Sri Paramahansa Yogananda, including Kriya Yoga, are available in the *Yogoda Satsanga Lessons*. For free Introductory Literature, write to:

YOGODA SATSANGA SOCIETY OF INDIA

Paramahansa Yogananda Path,

Ranchi 834001, Jharkhand

“आदर्श जीवन” पुस्तकमाला

के अंतर्गत अन्य पुस्तिकायें

श्री श्री परमहंस योगानन्द

प्रार्थनाओं के उत्तर प्राप्त करना

चिन्तामुक्त जीवन

दिव्य प्रेम का विकास कैसे करें

ईश्वर की असीम शक्ति द्वारा रोग-मुक्ति

मानसिक एकाग्रता द्वारा सफलता

रोग-निवारण की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक

पद्धतियों का समन्वित उपयोग

विजय का मार्ग कैसे पायें

श्री श्री दया माता

दूसरों के अंतःकरण में परिवर्तन कैसे लायें

श्री मृणालिनी माता

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

योगी कथामृत

द्वारा श्री श्री परमहंस योगानन्द

“शताब्दी की श्रेष्ठतम एक सौ आध्यात्मिक पुस्तकों” में चुनी गयी यह लोकप्रिय आत्मकथा हमारे युग की एक महान आध्यात्मिक विभूति की अत्यंत चित्ताकर्षक छवि प्रस्तुत करती है। मन को मोह लेने वाली सुस्पष्टता, वाक्पटुता और हास्यरस युक्त भाषा कौशल का श्री श्री परमहंस योगानन्द ने अपने जीवन के इस प्रेरणाप्रद वृत्तान्त का वर्णन करने में प्रयोग किया है—उनके विलक्षण बचपन के अनुभव, किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु की उत्साही खोज में सारे भारत भर के अनेक संतों एवं ज्ञानियों से उनकी मुलाकातें, अपने गुरु के आश्रम में दस वर्षों का प्रशिक्षण, और वे तीस वर्ष जो उन्होंने अमेरिका में अपनी शिक्षाओं का प्रचार करते हुए बिताये। इसमें महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, लूथर बरबैन्क, कैथोलिक सन्त थेरेसे नॉयमन और अनेक विख्यात पौर्वात्य तथा पाश्चात्य आध्यात्मिक विभूतियों से उनकी मुलाकातों का भी वर्णन है।

योगी कथामृत एक असाधारण जीवन का अत्यंत सुंदर ढंग से लिखा गया वर्णन भी है और साथ ही योग के प्राचीन विज्ञान और उसकी ध्यान की चिरप्रचलित परंपरा का गहन परिचय भी है। इसमें लेखक महोदय दैनंदिन मानव जीवन की साधारण घटनाओं एवं साधारणतया चमत्कार कहे जाने वाली असाधारण घटनाओं के पीछे कार्यरत सूक्ष्म किन्तु सुनिश्चित नियमों को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार उनकी मंत्रमुग्ध कर देने वाली जीवन गाथा मानव अस्तित्व के अंतिम रहस्यों का अंतर्वेधी एवं अविस्मरणीय झलक प्रदान करने के लिये पृष्ठभूमि बन जाती है।

आधुनिक काल का आध्यात्मिक गौरव ग्रन्थ मानी जाने वाली यह पुस्तक अठारह भाषाओं में अनुवादित हो चुकी है तथा अब विश्व भर में कई महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक तथा संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग में लायी जा रही है। पचास से भी अधिक वर्ष पहले जब यह प्रथम बार अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी तभी से अब तक लोकप्रियता के शिखर पर आसीन इस पुस्तक ने विश्वभर में लाखों लोगों के हृदयों में अपना स्थान बना लिया है।

“इस ज्ञानी महात्मा की यह आत्मकथा पाठक को मंत्रमुग्ध कर देती है।” — द टाइम्स ऑफ इण्डिया

“एक अनुपम वृत्तान्त।” — द न्यू यॉर्क टाइम्स

“सुस्पष्ट टिप्पणियों सहित दिया गया मनमोहक चिंतन।” — न्यूजवीक

“योग की इस प्रस्तुति के समान अंग्रेजी या किसी भी अन्य यूरोपीय भाषा में आज तक कुछ भी कभी लिखा नहीं गया।” — कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस